जन्म–मरण से मुक्त, मुमुक्षुजीव को सम्यक्मार्ग प्रदान करनेवाले, अपूर्व बोधिदातार परम उपकारी 'पूज्य भाईश्री' के समाधिदिन पर उनके चरणोंमें अत्यंत भक्तिपूर्वक कोटि कोटि वंदन हो !

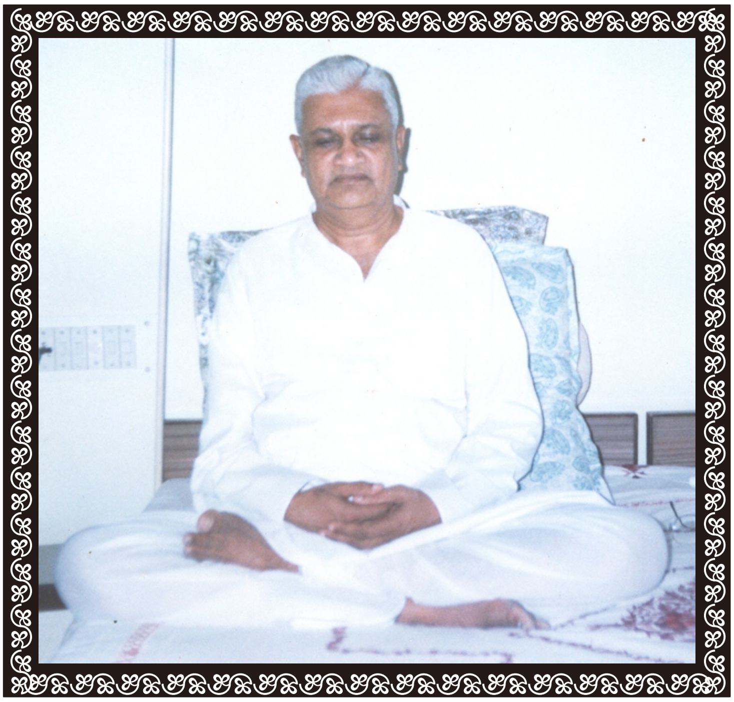

देह छतां जेनी दशा वर्ते देहातीत,
ते ज्ञानीना चरणमां हो वंदन अगणित ।

भवसागरमें डूब रहे जीवों के लिए परम आधारभूत, मोक्षमार्ग के रहस्योद्घाटक, दिव्यदेशना के दाता, मुमुक्षु जीवों के जीवनशिल्पी, केवल निष्कारण करुणामूर्ति, परम निस्पृह, गहन विचक्षणता के धनी, प्रचण्ड पुरुषार्थ के धारक ऐसे 'पूज्य भाईश्री' के गुणानुवाद करने के लिए सर्वथा अशक्तिवान हम जैसे पामर जीव केवल भक्तिभाव से प्रेरित होकर आपके समाधिदिन पर आपश्री के चरणों में नतमस्तक होकर, मन–वचन–काया के त्रियोग से जो भी अपराध, अविनय व अशातना हुई हो इसकी शुद्ध अंतःकरणपूर्वक क्षमा चाहते हैं। आपके दर्शाये हुए मार्ग पर चलने के लिए उद्यमवंत हो यही भावना आज के दिन भाते हैं।

स्वानुभूतिप्रकाश

वीर संवत - २५४१ : अंक-२०९ : वर्ष - १९ : मार्च-२०१५

अषाढ सुद ४, रविवार, दि. ०८-०७-१९७८, बहिनश्री के वचनामृत-९४ पर पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी का प्रवचन, प्रवचन-३२

ध्रुवतत्त्व में एकाग्रता से ही निर्मल पर्याय प्रगट होती है, विभाव का अभाव होता है।।९४।।

९४, '**ध्रुवतत्त्व में एकाग्रता से ही निर्मल पर्याय प्रगट होती है,...**' यहाँ भी यही आया। ध्रुव जो ज्ञान का सागर, अतीन्द्रिय आनन्द का सागर प्रभु (है)। वह ध्रुव-हमेशा रहनेवाला है। '**ध्रुवतत्त्व में एकाग्रता से...**' एकाग्रता, पर्याय है। त्रिकाली ध्रुव में एकाग्रता से (निर्मल पर्याय होती है)। राग में एकाग्रता से दुःख होता है और ध्रुवतत्त्व में एकाग्रता होने से निर्मल पर्याय प्रगट होती है। राग में एकत्व होने से दुःख उत्पन्न होता है और ध्रुव तत्त्व में एकाग्रता होने से निर्मल पर्याय अर्थात् आनन्द की पर्याय उत्पन्न होती है। समझ में आया ? सूक्ष्म बातें करते हैं और कहते हैं समझ में आया ! बापू ! ऐसा मार्ग है, भाई ! आहा...!

ध्रुव तत्त्व पर एकाग्रता से (अर्थात्) शाश्वत चीज पर दृष्टि करने से, वहाँ एकाग्रता होने से निर्मल वीतरागी आनन्द की दशा प्रगट होती है। राग में एकाग्र होने से दुःख की दशा उत्पन्न होती है, आकुलता की दशा उत्पन्न होती है। भगवान ध्रुव आत्मा,... चारों ओर से दृष्टि समेटकर ध्रुव पर दृष्टि करने से, उसमें एकाग्र होने से निर्मल पर्याय प्रगट होती है। उसमें से तो वीतरागी अतीन्द्रिय आनन्द की दशा प्रगट होती है। आहा...हा...! अतीन्द्रिय आनन्द प्रगट हो, वह धर्म (है)। आहा...हा...! ऐसी महँगी चीज (है)।

ध्रुव तत्त्व में... परन्तु वह तत्त्व है न ? आत्मतत्त्व है न ? है तो ध्रुव है न ? बदलती पर्याय भले हो परन्तु वस्तु की अपेक्षा से ध्रुव है न ! आहा...! सोना, सोनेरूप कायम रहकर, कड़ा, कुण्डल की अवस्था होती है। कड़ा, कुण्डल की अवस्था ध्रुव नहीं। सोना, सोनारूप हमेशा है। ऐसे अवस्था पलटती है परन्तु वस्तु की अपेक्षा से कायम ध्रुव है। आहा...हा...! ऐसा उपदेश ! यह मार्ग तो ऐसा है, भाई ! वर्तमान में तो ये करो, व्यवहार करो, व्यवहार से निश्चय हो जायेगा।निवृत्ति लो, स्त्री-कुटुम्ब छोड़ो, संन्यास लो, ये लो... धूल में भी नहीं है। आहा...हा...! बाहर का त्याग-ग्रहण तो स्वरूप में है ही नहीं।

त्याग-उपादानशून्यत्व शक्ति। आत्मा में ऐसी एक शक्ति-गुण है कि रजकण का ग्रहण करना और रजकण का छोड़ना, ऐसा आत्मा में है नहीं। परद्रव्य को कैसे ग्रहे और कैसे छोड़े ? मात्र विकारी दशा को माना है, ग्रहण किया है, पर्याय में अपना है - ऐसा माना है। अपने ध्रुव पर दृष्टि करने से राग का त्याग दृष्टि में होता है, वह (वास्तविक)

त्याग है। बाकी बाहर का त्याग (किया), कपड़े बदलकर संन्यासी हो गया और पीले कपड़े पहन लिये, (वह त्याग नहीं है) 'रजनीश' पीले कपड़े पहनता था न ? अरे...! शरीर ही जहाँ उसका है नहीं तो कपड़े उसके कहाँ से हो गये ? आहा...हा...!

'**ध्रुवतत्त्व में एकाग्रता से ही...**' एकाग्रता से ही। राग की एकाग्रता से निर्मल पर्याय कभी नहीं होती। व्यवहार दया, दान, व्रत, भक्ति, तप आदि कोई भी विकल्प हो, उस राग से कभी निर्मल पर्याय नहीं होती, क्योंकि राग स्वयं मलिन है। मलिन में से मलिन पर्याय होती है। भगवान त्रिकाली आनन्द शुद्ध निर्मल है, उसमें एकाग्रता होने से निर्मल सम्यग्दर्शन, ज्ञान, शान्ति-ऐसी निर्मल पर्याय प्रगट होती है। यह निर्मल पर्याय प्रगट हुई, वह धर्म है। राग प्रगट हुआ, वह अधर्म है। आहा...हा...! आया ?

'**विभाव का अभाव होता है।**' दो बातें कही। व्यय, उत्पाद और ध्रुव, तीनों बात डेढ़ पंक्ति में ले ली। क्योंकि् वस्तु 'उत्पाद-व्यय-ध्रुवयुक्तं सत्' (है)। नयी अवस्था उत्पन्न होती है, पुरानी अवस्था व्यय होती है और अपनी चीज ध्रुव स्वरूप से हमेशा रहती है। आहा...हा...! अब ध्रुव जो चीज है, उसमें एकाग्र हो तो उसमें तो निर्मलता भरी है तो निर्मल पर्याय प्रगट होती है – उत्पाद; और विभाव जो राग है, उसका व्यय होता है; और ध्रुव का तो आश्रय है। आहा..हा...! समझ में आया ? यह सूत्र तो बहुत प्रसिद्ध है – 'उत्पाद-व्यय-ध्रुवयुक्तं सत्।'

उत्पाद-व्यय-ध्रुव (नाम का) भी आत्मा में एक गुण हैं। ४७ शक्ति। थोड़ी सूक्ष्म बात हैं, भाई ! यह तो गम्भीर महत्व की बात है। संसार की परिपाटी से यह भिन्न चीज है। क्या कहते हैं ? अन्तर में आत्मा जो है, उसमें ऐसा एक गुण हैं, ऐसी शक्ति है कि उत्पाद-व्यय-ध्रुव हो – ऐसा उसका एक गुण है। उत्पाद और व्यय करना पड़े – ऐसा नहीं। आहा...हा...! भगवान आत्मा ध्रुव में एक ध्रुव गुण है कि जिसमें एकाग्र होने से उत्पाद-व्यय-ध्रुव के कारण निर्मल पर्याय उत्पन्न होती है और पूर्व की विभाव पर्याय का नाश होता है और ध्रुव का आश्रय हमेशा रहता है। दृष्टि में तीन नहीं है; दृष्टि में ध्रुव एक (है)। किन्तु दृष्टि ध्रुव पर होने से निर्मल पर्याय उत्पन्न होती है और पूर्व की मलिन पर्याय का व्यय-नाश होता है। आहा...हा...!

जैसे लोहा है, लोहा। लोहा... लोहा...! काट है न ? जंग... जंग। ऐसे छैनी मारे, छैनी। छैनी मारने से काट का-जंग का व्यय होता है और अन्दर जो प्रकाश है, उसकी उत्पत्ति होती है और लोहा तो कायम रहता है। आहा...हा...! लोहा होता है न, लोहा ? उसमें जंग होता है न ? जंग। हमारी भाषा में काट कहते हैं। जब जंग पर छैनी मारे, छैनी... छैनी, तो जंग के अंश का नाश होता है और लोहा तो सफेद है न ? स्टील आदि। सफेद पर्याय उत्पन्न होती है, जंग का नाश होता है। लोहस्वरूप तो कायम है।

ऐसे भगवान आत्मा ध्रुव पर दृष्टि करने से निर्मल पर्याय उत्पन्न होती है, ध्रुव तो है ही, उसकी एकाग्रता से निर्मल पर्याय उत्पन्न होती है (वह) उत्पाद (हुआ)। पूर्व का विभाव है, उसका व्यय होता है, (वह) व्यय (है)

और हमेशा रहनेवाली चीज का आश्रय है, (वह) ध्रुव (है)। तीनों वहाँ आ गये। आहा...हा...! समझ में आया ? एक सूक्ष्म बात आयी, फिर दूसरी सूक्ष्म, फिर तीसरी सूक्ष्म... इसमें पकड़ना कैसे ? लोगों को अभ्यास नहीं है। सब पाप का अभ्यास। दुनिया के सयाने।

मुमुक्षु :– कमाई करना पाप है ?

उत्तर :– कमाई करना पाप का ढेर है। दवाखाने में विकल्प करना कि इसकी दवा, उसकी दवा वह सब पाप है। मोटाणी ! तुम्हारे काका को कहते हैं। आहा ! अरे...! पैसा आया – ऐसा मेरा भाव भी पाप है। मैं कमाया – ऐसी मान्यता भी पाप है और मैंने पर को पैसे दिये तो पैसा मेरा था तो मैंने दिया। मेरा है – ऐसी मान्यता भी पाप है। पैसा तो जड़ है, तेरा कहाँ से आया ? आहा...हा...! जगत् की चीज बहुत कठिन, बापू !

मुमुक्षु :– ये तो ऐसा लगता है कि हम चौबीस खण्टे पाप ही करते हैं।

उत्तर :– पाप ही करते हैं, उसमें क्या ? अभी तक क्या किया रामजीभाई ने वहाँ ? पैसा कमाकर, पाप किया। फिर लड़के को पैसे दिये। पढ़ाई करने को 'अमेरिका' भेजा। ३५ हजार खर्च करके। उनके पुत्र को पढ़ाया। अभी तो आठ हजार का वेतन है, 'मुम्बई' में एक महीने का आठ हजार का (वेतन है)। वकालत में पाप किये। सलाह लेने को आते थे तो सबसे रुपया लेते थे । आहा...हा...!

मुमुक्षु :– वह भी पाप था ?

उत्तर :– एकान्त पाप। और ये सब सलाह लेने आते थे। क्या कहते हैं ? डेबर भाई, 'गाँधीजी' के लाईन के। सलाह लेने आते थे, वह भी पाप।

मुमुक्षु :– उसमें तो लोगों का भला होता है।

उत्तर :– धूल में भी भला होता नहीं। जेल में गये थे। एक महीना जेल में गये थे। 'गाँधीजी' की लाईन में सलाह देते थे तो सरकार ने पकड़ा। आहा...हा...! देश की सेवा करने की सलाह दे, वह भी पाप (है)।

मुमुक्षु :– मोक्ष की अपेक्षा से पाप है।

उत्तर :– पाप ही है। वस्तु स्वरूप ही ऐसा है।

मुमुक्षु :– लौकिक अपेक्षा से अच्छा है, ऐसा कहते हैं।

उत्तर :– लौकिक अपेक्षा से पाप है। लोग तो पागल है तो पागल तो अच्छा-अच्छा कहे। पागल अच्छा कहे, उस पागल की कीमत क्या ? पागल का... क्या कहते हैं ? रिपोर्ट ? सर्टिफिकेट। पागल के पास सर्टिफिकेट लेता है, बहुत अच्छा है, उसका अर्थ क्या ? दुनिया तो पागल है।

मुमुक्षु :– धन्धा के लिये।

उत्तर :– धन्धे के लिये करता है वह पाप । आहा...हा...! पैसा कमाने के लिये राग करता है, वह पाप है और पैसा देने में पैसा मेरा है – ऐसा मानकर देना, वह पाप (है) और पैसा देने में राग मन्द किया हो तो मुझे लाभ हुआ, वह भी पाप।

मुमुक्षु :– यह तो मोक्ष की क्लास है।

उत्तर :– यह बात तो सच्ची। यह तो क्लास है। आहा...हा...! मोक्ष की कोलेज है। मोक्ष होने की कोलेज है। आहा...हा...! आज तो दो ही बोल चले। आया न ?

'**ध्रुवतत्त्व की एकाग्रता से ही...**' पर्याय में एकाग्रता से नहीं। परद्रव्य की लेनदेन पाप है। अपने त्रिकाली ध्रुवतत्त्व में एकाग्रता से ही निर्मल दशा प्रगट होती है, उसका नाम धर्म, वीतरागता (है)। आनन्द, शान्ति, सन्तोष, स्वच्छता, प्रभुता, ऐसी निर्मल दशा होती है। और '**विभाव का अभाव होता है।**' पूर्व में जो विकार था, उसका अभाव होता है; और भाव के आश्रय में निर्मल भाव की पर्याय उत्पन्न होती है। त्रिकाली भाव के आश्रय से निर्मल भाव की उत्पत्ति होती है और मलिन भाव का नाश होता है। यह वस्तु का स्वरूप है, बापू ! उसे थोड़ा समझना पड़ेगा। समय हो गया। (विशेष कहेंगे...)

(श्रोता :– प्रमाण वचन गुरुदेव !)

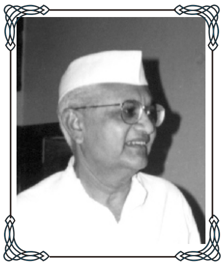

पूज्य भाईश्री शशीभाई द्वारा परमागमसार ग्रंथ के बोल-२५४ पर हुआ भाववाही प्रवचन

ता.२७-०५-१९८३, प्रवचन नं.११२ (विषय : विधि)

यह आत्मा स्पर्श-रस आदि गुणों से रहित और पुद्‌गल तथा अन्य चार अजीवों से भिन्न है, उसे भिन्न करनेका साधन तो चेतना-गुणमयता है। राग और विकल्प से भी भिन्न करने का साधन तो चेतना-गुणमयता ही है। जानन-शक्ति, चेतना-गुणमय-शक्ति यही आत्मा को अन्य द्रव्यों से भिन्न करने का साधन है। २५४.

उच्चपदधारी नीचपद में बडप्पन मानकर राचे तो उसके जैसी और कौन-सी भ्रांति समझनी ? राजा उठकर दातुन माँगने निकले, उसकी कोई क़ीमत नहीं, अभी थोड़ी क़ीमत हुई होगी, पहले तो मुफ्त में देते थे। दातुनवाले दातुन मुफ्तमें ही देते थे। उसे किसी प्रसंग पर कुछ दे देते थे। घर पर कोई प्रसंग हो तब या त्योहार के दिनों में दे (इसलिये) पूरे वर्ष (दातुन) मुफ्त में दे जाये। ऐसी मुफ्तकी चीज़ में वह राचे, मुझे मिल गया, मुझे दातुन मिल गया। अरे ! परंतु तुम राजा, तुम्हारे घर पर पूर्ण सुखसाह्यबी है और एक दातुन मिल गया उसमें तुम नाचने लग गये ! इसप्रकार तुम सर्वोत्कृष्ट सिद्धपद और किसीने थोड़ा-सा मान दिया तो वहाँ तुम नाचने और राचने लग गये। कहते हैं कि यह तुम्हारी भ्रांति है। इसमें तुम्हारे पद का भान भूल जाये उतना बड़ा नुकसान है।

मुमुक्षु :- व्यवहार में...

पूज्य भाईश्री :- व्यवहार में मैंपने कबतक खड़े रहना है ? इतना प्रश्न है। व्यवहार में मैंपने कहां तक खड़े रहना है ? ऐसा है। गौण हो जाना चाहिये। अभी यह विषय चला, भाई ! गौण हो जाना चाहिये। खयाल आये कि यह मान नहीं देते। गौण हो जाना चाहिये। खयाल आये कि यह मान देते हैं, तो गौण हो जाना चाहिये। मान और अपमान दोनों गौण हो जाने चाहिये। तो आत्मा मुख्य होने का अवसर आये। नहीं तो किसी भी प्रकार से इसमें से छूटा जाये ऐसा नहीं है। ऐसा यह प्रकार है।

यहाँ तो यह बात बहुत सुंदर की है। बहुत गहराई है। इस विषय की अंतरंग गहराई बहुत है। इस विषय की विशालता भले ही ना लगे। यह चेतनागुणमयता कह दिया है। यह तो इतनी ही बात है कि आत्मा चेतनास्वभावस्वरूप है। इतनी ही बात है। परंतु इतनी बात में गहराई बहुत है। कितनी गहराई है ? ऐसा यदि विचार किया जाये तो जिस गहराई में ऊतरने के बाद सादि अनंतकाल रह जाये, इतनी गहराई है। कितनी है ?

सामान्यतः मनुष्य को ऐसा लगता है कि एक ही आत्मा में कितना टिका जाये ? आत्मा चैतन्यस्वरूपी आत्मा। लो ! आत्मा चैतन्यस्वरूपी आत्मा। अब इसमें अनेक प्रकार के विचार-विकल्प और विशालता कुछ होती हो तो उसी में समय जाये। नया-नया उसमें अंदर से कुछ आये तो समय जाये। किन्तु मात्र चैतन्यपना, मात्र चेतनागुणमयता, चैतन्यस्वभाव, चैतन्यमूर्ति आत्मा। परन्तु इसमें क्या ? इसमें कैसे टिका जाये ? ऐसे बहिर्मुख, बहिर्मुख दृष्टि से ऐसा लगता है। परन्तु यह विषय ऐसा निरस नहीं है। बल्की आत्मा के रस से सभर हो, भरपूर हो जाये ऐसा यह विषय है। यदि उसकी गहराई में जाये तो। नहीं तो उसे निरस लगे कि आत्मा

चैतन्यस्वभावी आत्मा। आत्मा यानी चैतन्य, चैतन्य यानी आत्मा। चलिये, कुछ नहीं। अब और कुछ। फिर शास्त्र पढे तो उसमें से नया-नया जानना और नया-नया समझने में रुके और नहीं तो दुनिया के उदय प्रसंग कुछ कम नहीं हैं।

जीव को संचित कर्मोका उदय, धारावाही आठों कर्मों का उदय चलता होने से बाह्य प्रसंग कुछ कम नहीं हैं। निरंतर वह परसन्मुखतामें परद्रव्य प्रति रुका रहे ऐसी पूर्व व्यवस्था तो है ही, ऐसी पूर्व की व्यवस्था तो है। अनेक प्रकारके उदय उसे चालु ही चालु, चालु ही चालु रहे और उसमें उसके परिणाम जुडे ही जुडे रहे और उसीमें अनंतकाल चला जाये। क्योंकि फिर जो नये बँधे उसका उदय आये, फिर नये बँधे उसका उदय आये। ऐसे ही अनंतकाल जीवने व्यतीत किया है।

उसे यहाँ कहते है कि, भाई ! वहाँ से पीछे मुडकर उन पुद्गलों, जड पदार्थों, अजीव, राग और विकल्प से भिन्न पड़ने जैसा है। उसमें जुड़ने जैसा तो नहीं है अपितु उससे भिन्न पड़ने जैसा है। और भिन्न पड़ने का साधन चेतनागुणमयता है। चेतनास्वभाव है, चैतन्य चैतन्य को पकड़े। चैतन्यका स्वभाव अनुभव करने का है और अनुभव करने का स्वभाव स्वयं के ही अनुभूतिस्वरूप आत्मा को अनुभव में ले। वैसे तो आबाल-गोपाल को अनुभवमें आ ही रहा है। आबाल-गोपाल को अनुभवमें तो आता ही है। परंतु थोड़ा जागृत होकर, अन्य सबकुछ गौण करके स्वयं में ही स्वयं के अनुभव को आविर्भूत करके, चेतना को, अनुभव को मुख्य करके, मुख्य किया उसे ग्रहण किया ऐसा कहने में आता है। वह उसका साधन है। इसके सिवा, कोई साधन है ऐसा कहने पर विचारने हेतु यह बात स्पष्ट की जाती है की अन्य कोई साधन भी नहीं है। ऐसा है। यह एक ही साधन है और अन्य कोई साधन नहीं। परंतु शास्त्रका स्वाध्याय करना वह साधन है कि नहीं ? वह साधन नहीं है।

चेतनागुण को अधिक अनुभव करने हेतु बाह्य पदार्थोंका त्याग करना कि जिससे उसका अनुभव करने का प्रसंग नहीं रहे। त्याग कर दें तो उसका अनुभव करने का प्रसंग नहीं रहे न ! मिठास का अनुभव नहीं करना हो तो मिठास का त्याग कर देना। ठिक ! वह उसका साधन है कि नहीं ? वह उसका कोई साधन नहीं। सभी प्रकार के साधनांतर का इसमें निषेध है। एक साधन बतलाकर ऐसा कहते हैं कि, अन्य साधनों का इसमें निषेध है। अन्य साधन, साधन का नाम तब प्राप्त करते हैं अर्थात् बाह्य पदार्थोंका त्याग और सत्शास्त्रका अध्ययन, उसे साधन ऐसा नाम तब मिलता है कि जब अंतरंग में चैतन्यस्वभाव को ग्रहण करके साधन बनाये तब। उपचार से उस बाह्य क्रिया को साधन कहने में आता है। नहीं तो वह वास्तवमें साधन नहीं है। ऐसे लेना।

इसमें प्रयत्न करे, चैतन्यस्वभाव को अनुभवने का प्रयास करे तब उसमें से कुछ प्रश्न उपस्थित हो ऐसा है कि इसमें ऐसी तकलीफ होती है... ऐसी तकलीफ होती है... ऐसी तकलीफ होती है। चैतन्यस्वभाव को अनुभव करने की भावना तो है, इच्छा है, भावना है, परंतु दूसरे-दूसरे विचार इतने आते हैं और चालु रहते हैं कि इस चैतन्यस्वभाव का ग्रहण अर्थात् अनुभव होता नहीं। यह प्रश्न संभवित प्रश्न है। आप नहीं करो तो हम उठाते हैं। दूसरे-दूसरे काम इतने पड़े हैं कि जीव को इतनी उपाधि रहती है कि यह करना है... यह करना है... अभी यह करना है... यह करना है... यह उपाधि कि पोटली सर पर लेकर घुमता है। इसलिये यह अनुभव करने के लिये तो बहुभाग उसे फुरसद ही नहीं मिलती। बिना बोझ का हो, दूसरा भार उतारकर हलका हो तब यह काम करे न ! सरपर बोझा हो तो कहाँ से हो ?

दृष्टांत ऐसा आता है कि चन्द्र ऊपर आया था। चन्द्र ऊपर आया था और उस चन्द्र के सामने देखने के लिये किसीने ऐसा कहा कि, भाई ! थोड़ा ऊपर देखो तो

चन्द्र के दर्शन हो। तो ऊपर देखनेवाले के सर पर इतने वज़न की पोटली थी कि ऊपर देख सके ऐसा नहीं था। गरदन मुड़े तब न ! वज़न के कारण मस्तक ऐसे मुड़े, ऊपर हो ऐसी परिस्थिति नहीं थी। इसलिये उसे चन्द्र के दर्शन नहीं होते थे। इसप्रकार जीव उपाधि के बोझतले दबा हुआ है तबतक उसे चैतन्यचन्द्र के दर्शन करने का अवकाश रहता नहीं। एक तो यह कारण है। यह तो विषय को थोडा अधिक चर्चते हैं। तो अब करना क्या ? सब काम का क्या हो ? जिस काम की हमें उपाधि आ पडी हो उसका क्या करना ? भाई ! उपाधि तबतक है, वह उपाधि तुझे तबतक है कि जबतक तूने उसकि क़ीमत दी है, तबतक है। वह निर्मूल्य चीज़ है। जिस-जिस काल, जो-जो उदय, उदय के क्रममें आनेवाला है, उस-उस काल वह-वह उदय, उदय के क्रममें आनेवाला ही है। यह आत्मा तो अभी और उस काल और सर्वकाल ज्ञाता-दृष्टा ही है। इसप्रकार उसे उपाधि को, ज्ञाता-दृष्टा हूँ ऐसे जोरपूर्वक झाड़ देनी चाहिये।

कल इसमें से एक वचनामृत पढ़ा। 'परमागमसार'में से। ज्ञान को व्यवस्थितरूप से विकसित करना चाहिये। जैसे रोटी के आटे को गुँदते हैं, ऐसे ज्ञान को विकसित करना चाहिये। बहुभाग ६०० नंबर का था। यदि भूल नहीं हुई हो तो। पढ़े तो बहुत थे। किन्तु ६०० ही है। पृष्ठ संख्या-नीचे ११९ है। **'जैसे रोटी के आटे को गूँदते हैं,...'** यह रोटी का आटा है न ? उसमें आटा और पानी दो ही हैं। तीसरी चीज नहीं। रोटी बनाये तब कोई तीसरी चीज अंदर उपयोग में नहीं ली जाती। आटे का ढेर हो। कठौतामें एक सेर-दो सेर आटा लेते हैं। उसमें पानी डालते हैं। हो गया गूँधा हुआ आटा ? बस। दो चीज तो हो गई। आटा और पानी दो चीज तो एक कर दी। ऐसे नहीं। आटे और पानी को मिला देने जितनी यह बात नहीं है। परंतु एक करने के बाद उसे मसलकर गूँदना पड़ता है। मसलते है ऐसा कहते हैं न ? गूँदते हैं। ऐसा कहने में आता है। वह आटे और पानी को मिलाने से अतिरिक्त एक विशिष्ट अवस्था है। मिले हुए आटे और पानी की एक विशिष्ट अवस्था है।

इसप्रकार यहाँ कहते हैं कि, तूझे ग्रहण करने की बात आयी, तूझे स्व-परपदार्थ की भिन्नता समझ में आयी, चैतन्य को मुख्य करने जैसा है ऐसा तूझे समझ में आया, राग और पर को गौण करने जैसा है ऐसा समझ में आया, ऐसे नहीं। अब गूँदने की बात है। मात्र समझन नहीं अपितु उसे विकसित करने की बात है। यहाँ यह विषय बहुत अच्छा लिया है।

'जैसे रोटी के आटे को गूँदते हैं वैसे ही आत्मा को ज्ञान से मथना चाहिये।' लो ! मथना चाहिये ऐसे नहीं, ज्ञान से मथना चाहिये। अर्थात् ? शब्द तो इतने हैं। उसे स्वयं को ज्ञान में ज्ञानका अनुभव है। ज्ञान को ज्ञान का अनुभव है, ज्ञान को ज्ञान के अतिरिक्त अन्य का अनुभव होना अशक्य और असंभवित है। यह बात उसे बारंबार अपने अनुभव में, अवलोकन में लेनी चाहिये। बारंबार अवलोकन में लेना, वह अनुभव की और जाने का एक प्रयास है।

अनुभव कब हो ? कैसे हो ? ऐसे प्रश्न का सीधा उत्तर यह है कि अनुभवने का प्रयास करे तो अनुभव हो। अनुभव के सिवा अन्य प्रयास करे तो कदापि अनुभव नहीं होता। वह अनुभव करने का प्रयास क्या है ? कि बारंबार ज्ञान में ज्ञान के ज्ञानानुभव का अवलोकन करना और इसप्रकार उसे ज्ञान से आत्मा को ज्ञानरूप मथना कि मैं ज्ञानमयपने हूँ, चैतन्यमयपने हूँ, अनुभवरसमयपने हूँ। इसप्रकार उसे आत्मा को ज्ञान से मथना चाहिये। इस ज्ञानसे ज्ञान को मथने पर... यह तो अभी विचार की भूमिका है न ? जो विकल्प, विचार और राग चलता है उसमें उसे दुःख लगे बिना नहीं रहेगा। दुःख है और दुःख नहीं लगता उसका कारण क्या ? कि उसने ज्ञान को विकसित नहीं किया।

'**उसे भावभासन होना चाहिये।**' आत्मा को ज्ञान से मथना चाहिये अर्थात् उसे भावभासन होना चाहिये। क्या भावभासन होना चाहिये ? कि मैं एकान्त चेतनास्वभावी हूँ, मात्र ज्ञानस्वभावी हूँ, अनंत-अनंत ज्ञानादि सामर्थ्य, अनंत चैतन्य सामर्थ्य यह मेरा स्वरूप है, ऐसा उसे लगना चाहिये। उसे भासित हुआ ऐसा कहने में आता है। जैसे शीत-उष्ण लगता है, खारा-खट्टा लगता है, वैसे यह भी उसे लगना चाहिये। अंतरंग में लगना चाहिये। ऐसा उसे (अंदर) भावभासन होना चाहिये। उसका यह लक्षण है कि... यहाँ इस जगह बात को बहुत स्पष्ट की है कि भावभासन हुआ है ऐसा कैसे जाना? वैसे तो बुद्धिगोचर तो होता है, उसे भास्यमान हुआ क्यों नहीं कहा जाये ? आत्मा अनंत शक्तिधारक तत्त्व है, अनंत महिमावंत चैतन्यतत्त्व है ऐसा तो ज्ञान में आता ही है, बुद्धिमें आता है अर्थात् ज्ञान में आता है। फिर भी वह भास्यमान नहीं हुआ, उसका अर्थ क्या ?

'**भगवान कहते हैं इसलिये नहीं,...**' भगवान कहते हैं इसलिये नहीं। '**बल्की उसको स्वयं को...**' अपने स्वरूप का '**ऐसा भावभासन होना चाहिये...**' णमो सिद्धाणं का अर्थ उसे तब भास्यमान हो। वर्तमान में मैं मनुष्यरूप तो नहीं, पहले गुणस्थान में तो नहीं, चतुर्थ गुणस्थान में तो नहीं परंतु चौदह गुणस्थान से पार ऐसा सिद्धस्वरूपी हूँ। ऐसे अपने सिद्धपद का भावभासन होना चाहिये। भगवानने कहा इसलिये नहीं। जब एक का अंक सिखता था तब शिक्षकने सिखाया तब सिखा। और अब ? अभी शिक्षक कहते हैं कि यह एक है इसलिये नहीं। अब तो मैं कहता हूँ कि यह एक है। उसमें शिक्षक भूल करे तो भी मैं पकड लुँ। कोई शिक्षक बिंदि इस और करे, लो ! हिन्दी में नौं लिखते है न ? वैसे गुजराती में एक लिखे। इस ओर बाँई ओर उसकी बिंदि होती है न ? और रेखा दाँई ओर होती है। इसके बदले दाँई ओर बिंदि करे और उसका शिक्षक जिसके पास वह एक सिखा (वह ऐसा कहे), देखिये ! यह एक। ऐसा कहे तो ? नहीं। साहब ! आपने यह भूल क्यों की ? मास्टरजी ! आपने यह भूल की है। यह एक नहीं है। एक ऐसा नहीं होता। आपने ऐसा नहीं सिखाया और मैंने ऐसा नहीं सिखा। इसप्रकार उसे स्वतंत्ररूप से जो भासित हुआ है वह भगवान कहते हैं इसलिये नहीं, शास्त्र कहते हैं इसलिये नहीं, गुरु कहते हैं इसलिये नहीं, परंतु मुझे स्वयं मेरी आत्मा, मेरे ज्ञान में, मुझसे ही ऐसी भासित होती है। उसे भावभासनका एक लक्षण गिनने में आया है। अनेक लक्षण हैं उसमें यह भी एक लक्षण है।

'**उसे स्वयं को ऐसा भावभासन होना चाहिये कि, 'मैं ऐसा महिमावंत चैतन्य पदार्थ हूँ।'**' इसमें सभी गुण आ गये। उसे भेद करने की आवश्यकता रही नहीं। अभेदरूपसे। और उसमें आगे कि समझ आ जाती है कि इसके सन्मुख होने से, ऐसे महिमावंत चैतन्यपदार्थ के सन्मुख रहने से '**संसार के दुःखों से छूटकारा होगा...**' अथवा सर्वप्रकार के रागादि दुःखभाव से छूटना होगा, अभाव होगा। ऐसा उसे राग के अभाव होने से पहले ही भासित हो जाता है। यह उसे भासित हो जाता है। इसलिये उसके सन्मुख होने का उसका बारंबार प्रयत्न चालु रहता है।

किसमें से यह विषय चला ? चैतन्यगुणमयपने हूँ, चैतन्यस्वभावी हूँ ऐसा अनुभव करनेपर दूसरे विकल्प बीचमें आते हैं। अर्थात् वह जाते नहीं। ऐसा है न ? क्योंकि एक तो वह उपाधि से निवृत्त हुआ नहीं। अपने सरपर अनेक प्रकार की जिम्मेदारी की पोटली लेकर घुमता है। वह उसे झाड़ देने जैसा है। जिसकाल में जब जैसा होना होगा वैसा होगा। इस शरीर से लेकर सरोग-निरोगपना, शरीर छूटने का काल, उन समस्त प्रकार के प्रसंग से लेकर समस्त संयोगो का जब जैसा होना होगा वैसा होगा। मैं ज्ञाता-दृष्टा हूँ। वर्तमान से ही ज्ञाता-दृष्टा हूँ और जो-जो प्रसंग, कर्मप्रसंग उत्पन्न होंगे तब भी मैं

ज्ञाता–दृष्टा ही हूँ और रहनेवाला हूँ। इसप्रकार उसे एक ओर जो नास्तिका बोझ सरपर है, नहीं है ऐसे कार्य, जो आत्मा में नहीं ऐसे कार्यों का बोझ सरपर है, उसकी उपाधि और व्याधि उसे छोड़ देनी चाहिये।

मुमुक्षु :– अपने कर्तव्य से चूका नहीं ?

पूज्य भाईश्री :– परंतु उसका कर्तव्य है ही नहीं। आत्मभान खो बैठे वह कर्तव्य चूक गया, उसका उसे कुछ नहीं ?

मुमुक्षु :– अपना कर्तव्य तो निभाना चाहिये न ?

पूज्य भाईश्री :– लेकिन अपना ही भान भूला वहाँ उसे कुछ कर्तव्य जैसा नहीं लगा ? और जगत के कार्य जो कर सकता नहीं, जगत के कार्य जो कर सकता नहीं उसे कर्तृत्वरूप से मानकर उसके कर्तव्य का बोझ उठाकर घूमता है, तबतक उसे चैतन्यसन्मुख होने का अवसर आये नहीं। जैसे चन्द्रमा के दर्शन नहीं होते। इतना हलका हो जाये कि इस जगत में मेरा कोई कर्तव्य नहीं, एक स्वकार्य के अलावा। मेरे स्वकार्य के अलावा मेरा कोई कर्तव्य नहीं। उसे दूसरे विकल्पों का वेग कुछ हलका पडता है। अभी नाश होने के लिये तो पूरा अलग ही प्रयत्न है। लेकिन पहले उसे उसका वेग हलका हो जाये। वेग कम हो जाये तब स्वकार्य को करने के जोशवाला जीव उसे अभी उदय तो छूटे नहीं, पूर्वकर्म संचित उदय में क्रमसर धारावाही चले आ रहे हैं, उन सर्व उदय के प्रसंग में सावधान होता है। सर्व उदय के प्रसंग में उस उदय से भिन्न मैं जाननेवाला हूँ, ऐसे वह ज्ञान को मथने के प्रति लग जाता है। यह अंदर में एक दूसरा Process चालु हो गया। उसे अपने ज्ञान को मथने की बात रही। उस ज्ञानको मथते–मथते भावभासन होता है। भावभासन होनेपर चैतन्यवीर्य की स्फुरणा होती है। २१० नंबरका वचनामृत अपने आ गया। इसलिये पुरुषार्थ जागृत होता है और तत्पश्चात उसे अनुभव होने का अवसर आता है। उसे चेतनागुण से भिन्न किया ऐसा कहने में आता है। विषय तो बहुत है, विशेष लेंगे...

पूज्य भाईश्री शशीभाई द्वारा परमागमसार ग्रन्थ का बोल–२५८ पर हुआ भाववाही प्रवचन, दि. ३०–५–१९८३, प्रवचन नं. ११५ (विषय : विधि)

सम्यग्दृष्टिका ज्ञान अतिसूक्ष्म है, फिर भी वह राग और स्वभावके बीचकी सन्धिमें ज्ञानपर्यायका प्रवेश होते ही प्रथम बुद्धिगम्य भिन्नता करता है। खयालमें आ सके इस प्रकार (प्रथम ही) राग और स्वभाव दोनोंको छेदता है । बुद्धिगम्य छेदन याने कि, खयालमें आ सके इस प्रकार दोनोंमें भिन्नता करता है । सम्यक्दर्शन प्राप्त करनेकी और सम्यक्दर्शनको कायम रखनेके मार्गकी यह बात है। प्रथम यह बात सुनें ; सुनकर विचार करें, और पीछे प्रयत्न करें । २५८

यह 'मोक्ष अधिकार' का कलश है। और मोक्ष का कारण जो भेदज्ञान कि जिस भेदज्ञान की विधि का यहाँ विस्तार किया है। सम्यग्दृष्टि भेदज्ञान कैसे करता है, उसके प्रकार का वर्णन करके वह पद्धति और वह रीत कोई भी जीव अपनाये तो वह भी मिथ्यादृष्टि मिटकर सम्यग्दृष्टि हो। उसकी पर्याय में भी उतना पर्यायांतरपना .. हो, उसका वर्णन करने का यहाँ हेतु है। ऐसे विचारना योग्य नहीं है कि सम्यग्दृष्टि को ऐसा होता है, सम्यग्दृष्टि ऐसा कर सकते हैं। हम तो मिथ्यादृष्टि हैं, इसलिये हमें ऐसी कोई रीत या विधि नहीं आये, ऐसा विचारने योग्य नहीं है। वर्णन करने का कारण, पर्याय का वर्णन करने का कारण, वह रीत और विधि बतलानी है कि जिससे उसका अनुकरण कर सके। इतनी बात है। अनुकरण कर

सके। '**सम्यग्दृष्टि का ज्ञान...**'

मुमुक्षु :- ..

पूज्य भाईश्री :- पर्याय का वर्णन करने का हेतु यह है कि ज्ञानी सम्यग्दृष्टि पर्याय में किस विधि से कार्य करते हैं ? स्वकार्य करने की रीत क्या है ? यह बतलाने का हेतु इतना है कि ऐसा अनुकरण करके मिथ्यादृष्टि भी सम्यग्दृष्टि हो सके। मैं तो मिथ्यादृष्टि हूँ, वह तो सम्यग्दृष्टि की बात रही, हमें नहीं हो सकता, वह उनकी बात है और अपनी नहीं, ऐसा करके अवगणना करने जैसा नहीं है। परन्तु कहनेवाले का आशय है, हेतु है उस अनुसार स्वयं अनुसरण करे, अनुकरण करे तो स्वयं भी ऐसी रीत और विधि प्राप्त करके सम्यग्दृष्टि हो सके। ऐसा हेतु है।

नहीं तो किसीको ऐसा विचार आता है। क्षयोपशम में तो अनेक प्रकार से विपर्यास होते हैं। जो पर्याय की बात करता है उसे पर्याय की मुख्यता हो गई है। द्रव्य की मुख्यतावाले पर्याय की ज्यादा बात नहीं करते। परन्तु ऐसा नहीं है। पर्याय की बात करनेवाले को भी द्रव्य की मुख्यता हो सकती है। परन्तु वहाँ बात करने का प्रयोजन और हेतु क्या है इतना समझना चाहिये।

'**सम्यग्दृष्टि का ज्ञान अतिसूक्ष्म है, फिर भी वह राग और स्वभाव के बीच की सन्धि में ज्ञानपर्याय का प्रवेश होते ही प्रथम बुद्धिगम्य भेदज्ञान करता है।**' सम्यग्दृष्टि भेदज्ञान करता है। वह उसकी बुद्धि में ग्रहण हो, बुद्धि में गम्य हो ऐसा वह भेदज्ञान करता है, ऐसा कहते हैं।

मुमुक्षु :- यह जो अति सूक्ष्म ज्ञान लिया..

पूज्य भाईश्री :- '**सम्यग्दृष्टि का ज्ञान अतिसूक्ष्म है...**' इसलिये सूक्ष्म ऐसे ज्ञानस्वभाव को वह ग्रहण करता है और उससे विरूद्ध ऐसे विभावस्वभाव से वह दूर जाता है। जो विषय सूक्ष्म है उसे ग्रहण करने के लिये उसके साधन को भी सूक्ष्म होना पड़ता है। यह मोती का दृष्टान्त आता है न ? बारीक मोती है उसे पीरोने के लिये चिमटी से पकड़ना पड़ता है। उसमें साँप पकड़ने का सँड़सा काम नहीं आता। क्योंकि वह स्थूल साधन है। बारीक चीज़ को पकड़ने के लिये बारीक Point वाला चिमटा चाहिये। उसमें स्थूल-मोटे Point वाला चिमटा काम नहीं आता। इसप्रकार सूक्ष्म स्वभाव को ग्रहण करने के लिये ज्ञान सूक्ष्म होता है और सम्यग्दृष्टि का ज्ञान ऐसा सूक्ष्म हुआ है। ऐसा कहना है।

मुमुक्षु :- यह जो सम्यग्दृष्टि का ज्ञान लिया, वह कौन-सा ज्ञान लिया ?

पूज्य भाईश्री :- वह ज्ञान की पर्याय। सम्यग्दृष्टि के ज्ञान की पर्याय सूक्ष्म होकर कार्य करती है। सूक्ष्म होकर क्या कार्य करती है ? कि राग और स्वभाव, इन दोनों के बीच की सन्धि तोड़ने का कार्य करती है। क्योंकि राग और ज्ञान, उसका जो एकत्व हो रहा है वह बहुत सूक्ष्म होकर हो रहा है। जैसे यह बात विचारनेवाले को भी उसका एकत्व पकड़ में नहीं आता।

मुमुक्षुजीव राग और ज्ञान के एकत्व में परिणमता है। अभी सम्यग्दर्शन हुआ नहीं। वह इस विषय को विचार में ले सकता है, परन्तु अपने ही भाव को पकड़ नहीं सकता। क्यों पकड़ नहीं सकता ? कि उसका ज्ञान अभी स्थूल है। सम्यग्दृष्टि का ज्ञान जितना सूक्ष्म हुआ है उतना ज्ञान उसे सूक्ष्म नहीं

हुआ। यहाँ '**फिर भी...**' ऐसा कहकर यह कहना है कि वह सूक्ष्म ज्ञान होनेपर भी बुद्धिगम्य है। ऐसा सूक्ष्म नहीं है कि जो बुद्धि अगोचर है, बुद्धि में आता नहीं और अबुद्धिपूर्वक कार्य करता है। ऐसा ज्ञान नहीं है। राग और ज्ञान को भिन्न-भिन्न करने में, उसे भिन्न करने में, भिन्नत्व की प्रक्रिया होने में स्वयं को खयाल आता है कि यह स्वभाव मैं हूँ और यह रागादि विभाव मैं नहीं, ऐसा बुद्धि में आता है। यह भेदज्ञान ऐसा नहीं है कि जो बुद्धिगोचर नहीं है और केवलज्ञानगोचर है। ऐसा नहीं है, ऐसा कहना है। '**फिर भी...**' कहकर ऐसा कहना है। सूक्ष्म है फिर भी बुद्धिगोचर है। ऐसे लेना है। इसलिये 'फिर भी' शब्दप्रयोग किया है।

'**सम्यग्दृष्टि का ज्ञान अतिसूक्ष्म है...**' बहुत सूक्ष्म ज्ञान है। मेढक, चिड़िया हो तो भी, हाँ ! तिर्यंच प्राणी हो, क्षयोपशम कम हो, बुद्धि कम दिखती हो तो भी उसका ज्ञान सूक्ष्म है। अंग-पूर्वधारी मिथ्यादृष्टि हो तो भी यदि अन्दर भेदज्ञान नहीं करता हो तो उसका ज्ञान स्थूल है। ऐसा है। यहाँ स्थूल-सूक्ष्म का जो नाप है, उसका मूल्य है वह दूसरे तरीके से है। बाहर में लोग उस स्थूल-सूक्ष्म को दूसरे प्रकार से समझते हैं कि कम बुद्धिवाले स्थूलबुद्धि और बहुत बुद्धिवाले सूक्ष्मबुद्धि। ऐसा जो लौकिक Standard है, वह यहाँ काम नहीं आता। यहाँ पूरा प्रमाण अलग है।

यहाँ स्वभाव को ग्रहण कर सके और उस स्वभाव को ग्रहण करनेपर स्वभाव और विभाव को भिन्न कर सकता है उसका ज्ञान सूक्ष्म है। फिर चाहे जितनी विशाल बुद्धि हो और शास्त्र पढ़कर सूक्ष्म से सूक्ष्म न्याय खोलता हो, फिर भी यदि अन्दर में स्वभाव-विभाव का अर्थात् स्व-पर का एकत्व हो रहा है, उस एकत्व में भिन्न नहीं होता हो और ऐसे ही एकत्व में (परिणमता हो), वह मिथ्यात्व है। अनादि का (मिथ्यात्व) चालू रहता हो तो उसका ज्ञान स्थूल है। उसे यहाँ सूक्ष्म ज्ञान नहीं कहते। यहाँ ऐसी परिभाषा है। यहाँ इस अर्थ में लेना।

इसप्रकार '**सम्यग्दृष्टि का ज्ञान अति सूक्ष्म है...**' सूक्ष्म नहीं लिया, अति सूक्ष्म है ऐसा कहा। अन्दर में जो ज्ञानस्वभाव है उसमें अहंपना करता है। उसे भिन्न करता है। राग और स्वभाव के बीच (सन्धि है)। राग है वह विभाव है। चलता हुआ राग, उत्पन्न हो रहा है जो राग, उस राग और स्वभाव यानी ज्ञानस्वभाव-आत्मस्वभाव, इन दोनों के बीच सन्धि यानी जुड़ान हो गया है। दोनों के बीच सन्धि हो गई है इसलिये ज्ञान स्वयं रागादि ज्ञेय ज्ञान में प्रतिबिम्बित होनेपर उस ज्ञेय में एकत्व करता है, अपनत्व करता है, स्वयं का अनुभव करता है, उसे सन्धि कहने में आती है। संधि यानी जुड़ान।

मुझे ठण्ड लगी, मुझे गर्मी लगी। यह पुद्गल के साथ एकत्व है। अन्दर में राग-द्वेष-मोह के विकारी परिणाम होते हैं, यह विभावपरिणाम मैं हूँ, ऐसा जो अनुभव, उसे राग के साथ जुड़ान और एकत्व कहने में आता है। यह जो राग और पर के साथ एकत्व है वही जन्म-मरणरूप परिभ्रमण का कारण है। एकत्व टूटा वह प्रथम शुद्धोपयोग होनेपर एकत्व टूटता है। यह शुद्धोपयोग भेदज्ञान के प्रयत्न द्वारा प्रगट होता है अथवा भेदज्ञान के प्रयत्न का फल शुद्धोपयोग है। यह शुद्धोपयोग पूरा होने के बाद भी भेदज्ञान चालू रहता

है, भेदज्ञानरूप प्रयत्न और पुरुषार्थ बढ़ता होने से साधक को बार-बार शुद्धोपयोग उत्पन्न होता है। अर्थात् उसकी दशा विकसीत होती-होती, कम अन्तराल में, कम समय में उसे शुद्धोपयोग प्रगट हो ऐसी स्थिति में साधक विकास करता है, आगे बढ़ता है और मुनिदशा अंगीकार करे उतनी हद तक उसका पुरुषार्थ पहुँचे तब उसे क्षण-क्षण में शुद्धोपयोग प्रगट होता है, उसे मुनिदशा का भावलिंग कहने में आता है-भावचिह्न कहने में आता है। ऐसी दशा हो वह मुनि है अथवा वह भावलिंगी मुनि है ऐसा कहा जाता है। तत्पश्चात् जो प्रतिक्षण विभाव उत्पन्न होता है, उस विभाव के काल में भेदज्ञान वर्तता होने-से वह अन्तर भी टूटकर ऊपर के गुणस्थान में शुद्धोपयोग में आरूढ़ होता है और यदि अन्तमुहूर्त स्थिर रहे तो उसे केवलज्ञान अनन्त चतुष्टय प्रगट होते हैं। यह उसके कार्य करने की पद्धति का विषय है। पूरा पर्याय का विषय है परन्तु किसप्रकार वह कार्य करता है उस पद्धति का विषय है।

यहाँ तो विषय यह लेना है कि मिथ्यादृष्टि जीव किस प्रकार एकत्व तोड़े ? ऐसा समझे कि यह अतिसूक्ष्म विषय है और केवलज्ञानगोचर कार्य है। इसमें तो अपना काम नहीं। हम कैसे कर सकते हैं ? ऐसा नहीं है। इसलिये ऐसा कहते हैं कि सम्यग्दृष्टि को बुद्धिगोचर होता है। उसकी बुद्धि में, समझ में आये और खयाल में आये ऐसा यह भेदज्ञान होता है। भले ही सूक्ष्म है किन्तु वह अपेक्षितरूप से, मर्यादितरूप से सूक्ष्म है। बुद्धि में ग्रहण नहीं हो ऐसा कोई सूक्ष्म नहीं है। केवलज्ञानगोचर हो ऐसा सूक्ष्म नहीं है, ऐसा कहना है।

'राग और स्वभाव के बीचकी सन्धि में ज्ञानपर्याय का प्रवेश होते ही...' अर्थात् उन दोनों के स्वभाव भिन्न-भिन्न हैं, ऐसा ज्ञान में जाननें में आता है, वह उसका सन्धि के बीच में प्रवेश है। यह बिलकूल बुद्धिगोचर विषय है, ऐसा कहना चाहते हैं। **'प्रथम बुद्धिगम्य भिन्नता करता है।'** शुरूआत भी बुद्धिगोचर भेदज्ञान से है और वही बुद्धिगोचर भेदज्ञान ही चालु रहता है। अबुद्धिपूर्वक का विषय नहीं लेना, ऐसा कहते हैं। बराबर बुद्धि में गम्य हो ऐसा यह विषय है।

इसलिये अपने में और अपने परिणाम में इस ज्ञान से यह राग-विभाव भिन्न है ऐसा ज्ञान, अन्दर एकसाथ उत्पन्न हो रहे दो परिणाम की जाति को भिन्न करे, वह ज्ञान दूसरी उपाधि से व्यावृत्त, निवृत्त होकर, धीमा होकर, स्वयं के स्वभाव की सावधानी में आकर, सावधान होकर स्वयं ज्ञानगुण-चेतनागुणमयता स्वरूप है। पहले यह विषय ले लिया।

२५४. **'भिन्न करने का साधन तो चेतनागुणमयता है।'** स्वयं चेतनास्वभावस्वरूप है ऐसी जागृति में और सावधानी में वर्तता ज्ञान है, वह ज्ञान राग से अन्दर में धीमा, सावधान होकर भिन्न पड़ जाता है। अतः स्वयं स्वयं का अनुभव करने लगता है।

अवलम्बन में उसे अपना त्रिकाली परिपूर्ण शुद्धात्म स्वरूप है, वेदन में अपना ही परिणमता हुआ भाव है, वेदनगोचर होता है और विभाव से भिन्न होकर वह ज्ञान परिणमता है। विभाव के साथ तन्मय होकर वह ज्ञान परिणमता नहीं। राग की तन्मयता सहित और परसंयोग की तन्मयता सहित का जो परिणमन है, उसमें और इस परिणमन में बहुत अन्तर

है। एक संसारगत परिणमन है और एक मोक्षगत परिणमन है। गत यानी उसकी गति, उसकी दिशा। एक संसार की दिशा में जाता हुआ परिणमन है, जो राग और पर संयोग के साथ, शरीरादि के साथ एकत्वरूप से परिणमता है और जो अन्दर में भिन्न पड़ता है, चेतनागुणमयतारूप स्वयं को सावधानी से ग्रहण करके अन्दर में भिन्न पड़ता है अर्थात् स्वयं को मात्र ज्ञानमयपने अनुभवता है, ज्ञान मात्रज्ञान को अनुभवता है, ज्ञान मात्र स्वभाव को अवलम्बता है तब उसे राग और पर की सन्धि रहती नहीं। अनादि से चल रही राग और पर की सन्धि टूट जाती है। वह जुड़ान टूट जाता है। साधकजीव को एक भाषा में...

मुमुक्षु :- ... चलती पर्याय में भेदज्ञान करना हो बुद्धिपूर्वक ... मुझे रोग नहीं हुआ...

पूज्य भाईश्री :- मुझे रोग नहीं हुआ परन्तु रोग वह मेरा मूल स्वरूप नहीं। यह रोग है वह रोग है और रोग है वह मेरा मूल स्वरूप नहीं है। इसलिये मैं तो रोगी ही हूँ और रोगी ही रहूँगा न, रोगी ही हूँ न ! उसमें और यह रोग मिटाने जैसा है, इन दोनों बातों में बहुत अन्तर है। एक अपने को उस स्वरूप मानता हुआ स्वयं के मूल स्वरूप को विस्मृत करता है। वह बिलकूल विपरीत स्थिति है। और एक स्वयं के मूल स्वरूप के भान में रहता हुआ रोग का ज्ञान करता है, वह पूरी अलग स्थिति है। रोग का ज्ञान होना और रोगीष्ट, जैसा रोग है वैसा ही मैं हूँ-इन दोनों बात में तो बहुत बड़ा अन्तर है।

जैसे कोई मनुष्य को भूत का लगना होता है। तब वह भूताविष्ट पुरुष है। आता है ? 'समयसार' में दृष्टान्त आता है। भूताविष्ट पुरुष है। तो उसे क्या है ? कि जैसी उसने कल्पना की है फलाने-फलाने प्रकार का भूत मुझे लगा है। इससे पहले उसके विचार की परिस्थिति बहुत चलती है। वह तो जिसे लगा हो उसे मालूम होगा। परन्तु अपने Psychologycally समझ सके ऐसा है कि उसकी मानसिक परिस्थिति क्या होगी ? वह ऐसी बहुत कल्पना में, विचारों में बहुत लम्बे समय तक ऐसे ही घूटते... घूटते.. घूटते.. घूटते फिर कोई ऐसा प्रकार बनता है, जैसे हवा चली और नरिया खिसक गया, भूत आया, मुझे लिपटा। उस परिस्थिति में वह आ जाता है। उसे कुछ ऐसा जूठा आभास होता है और उसे ऐसा परिणमन दृढ़ होकर बैठ जाता है कि मुझे भूत लगा है। मुझे भूत लिपटा है, उसमें वह मुझे लिपटा है, यह बात भूल जाता है। वह भूत जैसी ही सब चेष्टा करने लगता है। जैसी अमानुषी चेष्टा भूत करता है और उस अमानुषी चेष्टा का उसने जो विचार किया है, वैसा ही वह करने लग जाता है। क्योंकि मुझे भूत लिपटा है, ऐसा वह भूल जाता है। स्वयं भूतस्वरूप ही प्रवर्तने लगता है। फिर उसका मनुष्योचित् व्यवहार नहीं रहता। यह परिस्थिति होती है न ?

इसप्रकार आत्मा स्वयं को मूल में भूला है और कर्म के उदय प्रसंग में मैं मनुष्य हूँ, शरीरधारी हूँ, शरीरवाला हूँ, रागवाला हूँ, संयोगवाला हूँ (इसप्रकार) अनेकविध प्रकार उसने विपरीत मान्यता के ढेर लगाये हैं। वह सब उसे मिथ्यात्व का भूत लगा है, दर्शनमोह का भूत है। जगत के समस्त जीवों को यह दर्शनमोह का भूत नचाता है। आता है 'समयसार' में ? भूत जैसे नचाता है, वैसे सब नाचते हैं और कुछ नहीं।

अब यहाँ विचार करने जैसी स्थिति में आया कि मूल स्वरूप कुछ अलग है और यह परिस्थिति कुछ अलग है, तब उसे उसके एकत्व से छूटना है, उसकी असर से मुक्त होना है, उस प्रकार के भूताविष्टपने से मुक्त होना है, तो उसे अपने मूल स्वरूप को पहिचानकर, लक्ष्य करके, रुचि करके, ज्ञान करके उस पर उसका पूरा वज़न चला जाना चाहिये। यदि पहिचाने तो रुचि होवे, और रुचि होवे तो उसका पुरुषार्थ का बल रुचि अनुयायी वीर्य की ओर ढले बिना रहे नहीं। ऐसा है।

मुमुक्षु :- स्वयं को पहिचानना चाहिये।

पूज्य भाईश्री :- उसे स्वयं को पहिचानना चाहिये। फिर उसे यह खयाल आता है कि यह रोग है, यह राग है सो रोग है। और उस रोग का यह निदान है और उसका यह उपाय है। रोग का निदान किया जाता है कि रोग कैसे हुआ ? कारण खोजा जाता है। उसके उपाय का विचार किया जाता है कि इसप्रकार रोग मिटे। उस समय उस रोग में, मैं रोगी, मैं रोगी, मैं रोगी, मैं रोगी ऐसे घूटता नहीं। लेकिन रोग का ज्ञान होनेपर भी यह रोग इसप्रकार मिटता है, उस उपाय में वह लगा रहता है। ऐसी बात है।

विशेष अगले अंकमें...

पूज्य श्री निहालचंद्रजी सोगानी के १०४ वें जन्मजयंति महोत्सव प्रसंग पर सुवर्णपुरी सोनगढ़ में धार्मिक कार्यक्रम

पूज्य गुरुदेवश्री के महापुराण के पात्र ऐसे पूज्य निहालचंद्रजी सोगानीजी की १०४ वीं जन्मजयंति उनकी साधनाभूमि सुवर्णपुरी में दि.२७-४-२०१५ से दि.२९-४-२०१५ त्रिदिवसीय धार्मिक कार्यक्रम सहित अत्यंत आनंद उल्लासपूर्वक मनाने का निश्चित किया गया है। यह धार्मिक कार्यक्रम सोनगढ़ स्थित गुरुगौरव होल में मनाया जायेगा।

इस प्रसंग पर प्रातः पूज्य बहिनश्री की तत्त्वचर्चा (आश्रम में), जिनदर्शन तथा पूजन जिनमंदिर में, पूज्य गुरुदेवश्री का सीडी प्रवचन स्वाध्याय मंदिर में, तत्पश्चात् पूज्य भाईश्री शशीभाई के द्रव्य दृष्टि प्रकाश ग्रंथ पर गुरुगौरव होल में प्रवचन, दोपहर में पूज्य गुरुदेवश्री का प्रवचन, बादमें पूज्य सोगानीजी का गुणानुवाद गुरुगौरव होल में, रात्रि में पूज्य गुरुदेवश्री का प्रवचन और गुरुगौरव होल में भक्ति एवं सांस्कृतिक कार्यक्रम सहित मनाया जायेगा। दि.२९-४-२०१५ पूज्य सोगानीजी के जन्मजयंती दिन पर पूज्य भाईश्री के प्रवचन के बाद जन्मवधामणा तथा भक्ति की जायेगी। इस प्रसंग में भारतवर्षीय सभी मुमुक्षु भाई-बहनों को पधारने का हार्दिक निमंत्रण है। आनेवाले मुमुक्षुओं को संख्या सहित अपने आने की जानकारी संस्था के कार्यालय में देने की विनंती।

संपर्क : श्री सत्सुख प्रभावक ट्रस्ट, ५८०, जूनी माणेकवाडी, भावनगर-३६४००१

आयोजक : श्री सत्सुख प्रभावक ट्रस्ट, भावनगर

ट्रस्ट के इस स्वानुभूतिप्रकाश के हिन्दी अंक (मार्च-२०१५) का शुल्क श्रीमती मनिषाबहन हेमंतभाई शाह, मुंबई के नाम से साभार प्राप्त हुआ है, जिस कारण से यह अंक सभी पाठकों को भेजा जा रहा है।

‘द्रव्यदृष्टि प्रकाश’ ग्रन्थमें से ‘प्रमाणका विषय’ विषयक वचनामृत

प्रमाणका विषय

निर्विकल्प होते ही अपनेमें से ही एक ज्ञान उघड़ता है जो दोनों (सामान्य-विशेष) पड़खों को सहज जान लेता है, उसीको प्रमाणज्ञान कहते हैं। ३.

❖

‘परिणाम’ और ‘त्रिकाल अपरिणामी’ – दो मिलकर ही पूर्ण एक वस्तु है, जो प्रमाण का विषय है। वेदांतादि तो केवल निष्क्रिय...निष्क्रिय कहते हैं, वे परिणाम को ही नहीं मानते हैं; तो निष्क्रिय भी जैसा है वैसा तो उनकी मान्यता में भी नहीं आता। यहाँ तो परिणाम को गौण करके निष्क्रिय कहा जाता है। ४.

❖

एक चक्र के अनेक पासे (पहल) हैं, सभी पासे अलग-अलग ड़िजाइन के हैं। जब किसी एक पासे की बात चलती हो तब दूसरे पासे की बात नहीं समझनी चाहिए। ऐसे वस्तु के अनेक धर्मोंमें से भिन्न-भिन्न धर्मों की बात चलती हो, तब एक को दूसरे में मिलाकर, घोटाला नहीं करना चाहिए। ५.

❖

अपने द्रव्य में दृष्टि तादात्म्य होते ही ज्ञान प्रमाण हो जाता है; तब ज्ञान (अन्य) सभी बातें (यथार्थपने से) जान लेता है। ४३.

❖

प्रश्न :- जम जाना भी तो पर्याय ही है न ?

उत्तर :- अरे भाई ! आखिर कार्य तो सब परिणाम में ही आयेगा। परिणाम से घबराओ मत, लेकिन परिणामपर खड़े भी मत रहो। कार्य तो परिणाम में ही आता है। अपरिणामी में जम गया (स्थिर हो गया) तो कार्य तो परिणाम में ही आयेगा और वेदन भी पर्याय का ही होगा। ‘अपरिणामी’ ‘परिणाम’ दो अंश मिलकर पूरी (प्रमाणज्ञान की विषयभूत) वस्तु है। १८७.

❖

अपने द्रव्य में दृष्टि का तादात्म्य होते ही ज्ञान प्रमाण हो जाता है। ऐसे प्रमाण हुआ ज्ञान सभी बातें जान लेता है। (अपनी आंशिक शुद्धि, अशुद्धि और इनके निमित्त आदि सभी को प्रमाणज्ञान जान लेता है।) ५२४.

❖

प्रमाण से द्रव्य पर्याय का कर्ता है। निश्चय से (त्रिकाली) द्रव्य पर्याय का कर्ता नहीं है। ६०७.

❖

पूज्य बहिनश्री की तत्त्वचर्चा

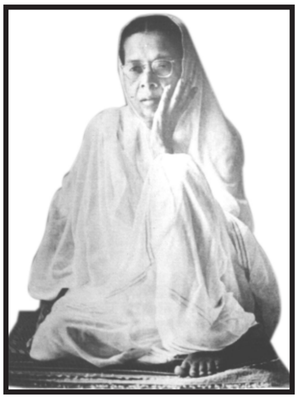

प्रश्न :- जीवके जैसा-जैसा कर्मोंका उदय आता है वैसा होता है उसमें स्वयं क्या कर सकता है ?

समाधान :- बाह्य संयोग-धन-सम्पत्ति आदि सब-मिलने, नहीं मिलनेमें पुण्य-पाप कारण हैं। परन्तु अंतरमें जो राग-द्वेष, संकल्प-विकल्प होते हैं उन्हें कर्म नहीं कराते; उनमें कर्म निमित्त हैं। कर्म यदि राग-द्वेष करायें तो स्वयं पराधीन हो गया। तब हम किसीसे यह नहीं कह सकते कि तू राग मत कर, द्वेष मत कर ! फिर तो उपदेश का भी कोई अर्थ नहीं कि तू दोष मत कर, तू इनसे विमुख हो जा ! ऐसे कैसे कहा जा सके ? स्वयं ही दोष करता है और स्वयं ही उनसे विमुख होता है; इसलिये पुरुषार्थ करनेमें स्वयं स्वतंत्र है। अपने परिणाम जो होते हैं उन्हें करनेमें स्वयं स्वतंत्र है। अपने परिणाम कैसे करने सो अपने हाथकी बात है। परन्तु बाह्यमें जो उदय आते हैं, जैसे कि शरीरमें रोग आये, असातावेदनीयका उदय आये, किसीको धन मिले, किसीको न मिले-उन सबको स्वयं बदल नहीं सकता; किसीको व्यवसाय अच्छा मिले, किसीको न मिले उसको बदल नहीं सकता; परन्तु अपने भावोंको स्वयं कर सकता है; कितने राग-द्वेष करने और कैसा करने वे स्वयं कर सकता है; तो जैसे राग-द्वेष कर सकता है वैसे ही शान्ति भी स्वयं रख सकता है; चाहे जैसे संयोग आयें तथापि आकुलता नहीं करना, अधिक खेद नहीं करना।

उसे जैसा करना हो वैसा कर सकता है। स्वयं अपने स्वभावकी पहिचान करना, विभावसे पृथक् होना, आत्मामें जाना, वह सब स्वयं स्वतंत्ररूपसे कर सकता है। भाव कर सकता है; परन्तु बाह्य क्रिया नहीं कर सकता। बाह्यमें जो कुछ हो सो सब पुण्याधीन है, परन्तु इन राग-द्वेषको टाल करके अन्तर्मुख होना वह स्वाधीन है। यदि जीव राग-द्वेष भी दूर नहीं कर सके तो पराधीन हो जाय। राग कर्म कराता है, द्वेष कर्म कराता है, अब मैं क्या करूं ? इसप्रकार यदि स्वयं कुछ नहीं कर सकता हो तो उपदेश निरर्थक हो जाय। आचार्य भी कहते हैं कि तू राग-द्वेष मत कर, विकल्प मत कर, शान्ति रख। यह सब उपदेश व्यर्थ हो जायगा। इसलिये स्वयं परिणाम कर सकता है, स्वयं शान्ति रख सकता है। कर्म ही सब कराता हो तो उपदेश किसलिये ? कर्म जीवके भावको नहीं करा सकता। स्वयं राग-द्वेष में जुड़ता है, वह अपने हाथकी बात है। मूल स्वभावको परिचानकर पुरुषार्थ करनेमें स्वयं स्वतंत्र है। **(स्वानुभूतिदर्शन-४३७)**

❖

प्रश्न :- आत्माका साक्षात्कार करनेमें समय लगे, तो हमें क्या करना ?

समाधान :- जबतक राग-द्वेष-मोहमें रुका हुआ है तबतक समय लगता है; इसलिये गुरु एवं आचार्य चाहते हैं कि तू पुरुषार्थ करके अपनी ओर जा। तू भेदज्ञान कर। यह राग है वह तेरा स्वरूप नहीं है, द्वेष तेरा स्वरूप नहीं है, तू उनसे जुदा है। तू ज्ञाता है, रागादिका ज्ञाता हो जा, साक्षी बन जा; वह तेरा स्वरूप नहीं है; तू पुरुषार्थ करे तो जो विकल्प हैं वे शान्त हो जायेंगे। भेदज्ञान करके आगे बढ। पहले राग-द्वेष नहीं छूट सकते; प्रथम उनसे भेदज्ञान हो और स्वभाव को पहिचाने कि यह मेरा स्वभाव है, यह सब कषाय मुझसे पृथक् हैं, मैं उनसे पृथक् हूँ-ऐसा भेदज्ञान करे; पश्चात धीरे-धीरे पुरुषार्थ करके उसमें लीनता करते-करते स्वानुभूतिकी उग्रता करता है। **(स्वानुभूतिदर्शन-४३८)**

प्रश्न :- आत्मसाक्षात्कारके लिये कुछ छोड़नेकी आवश्यकात है ?

समाधान :- बाह्यत्याग करना चाहिये ऐसा नहीं है। जब यथार्थ मुनिदशा आती है तब बाह्यमें सब छूट जाता है। उससे पूर्व उसे यथार्थ ज्ञान होता है। आत्माको पहिचाने, उसमें एकाग्र हो, वह सब गृहस्थाश्रममें होता है। वह अपनी रुचि बदल सकता है; क्योंकि भावोंको बदलना अपने हाथकी बात है। बाह्यमें गृहस्थाश्रम हो तब भी अंतरंग रुचिको बदल देना कि यह जो अनेक प्रकारके विकल्प आते हैं वह मेरा स्वरूप नहीं है, मैं उनसे पृथक् हूँ। गृहस्थाश्रममें इतना करके अपने स्वभावको पहिचान सकता है। मैं चेतन हूँ; मुझमें आनन्द है, विभावमें आनन्द नहीं है-ऐसा भेदज्ञान करके, विकल्पको तोड़कर स्वानुभूति कर सकता है।-ऐसा गृहस्थाश्रममें कर सकता है; पश्चात् स्वानुभूति बढ़ते-बढ़ते उसे त्याग हो जाता है। गृहस्थाश्रममें स्वानुभूति करके पहले तो अन्तरसे न्यारा हो जाता है। प्राचीन कालमें तो चक्रवर्ती गृहस्थाश्रममें रहकर आत्मानुभूति करते थे। उन्हें क्षणभर आत्माका ध्यान गृहस्थाश्रममें होता था।

(स्वानुभूतिदर्शन-४३९)

❖

प्रश्न :- आप अपने पूर्वभवोंके-जाति स्मरणज्ञानके सम्बन्धमें कुछ कहनेकी कृपा करें।

समाधान :- पूर्व जन्म है। यह जीव कहीं से आता तो है। कोई राजा होता है, कोई रंक होता है, किसीका जन्म राजाके घरमें और किसीका निर्धनके घरमें होता है; उसका कुछ कारण है। कुदरत कहीं अन्याय तो नहीं करती। कोई राजाके घरमें जन्मे, कोई रोगी होता है, कोई निरोगी होता है। ऐसी अनेक प्रकारकी विषमता देखनेमें आती है; इससे सिद्ध होता है कि यह जीव पूर्वभवमें था और वहाँ से आया है। यह सब जो विषमतायें हैं वे उसके पूर्व कर्मोंके कारणसे हैं। पूर्वभवों में जीव अनेक प्रकारके जन्म-मरण करते-करते यहाँ आया है। वह तो निर्विवाद है। व्यक्तिगत बात तो क्या कहें ? पूर्वमें यह जीव था और कहीं से यहाँ आया है। पूर्वमें अनेक भव करते आया है, पूर्वमें देवके, मनुष्यके ऐसे अनेक भव करके यह भव धारण करते हुए यह जीव यहाँ आया है। उसके भावानुसार पुण्य-पापके उदय आते हैं। उसमें वर्तमानमें भरतक्षेत्रमें तो धर्मकाल वर्त रहा है। पूज्य गुरुदेव जैसे धर्मात्मा यहाँ विराजमान थे, उनके प्रतापसे इतना धर्मका प्रचार हुआ है। उन्होंने सर्वांग मार्ग बतलाया है।

इस जगतमें एक महाविदेह क्षेत्र है। वहाँ साक्षात् भगवान विराज रहे हैं, और निरन्तर उनकी दिव्यध्वनि खिरती रहती है। अनेक जीव उस वाणीका श्रवण करते हैं, उनमेंसे कुछ जीव सम्यग्दर्शन-स्वानुभूति प्राप्त करते हैं तो कोई मुनिदशा अंगीकार करते हैं। साक्षात् भगवान विदेहक्षेत्रमें केवलज्ञानरूपसे पूर्णदशामें विराजमान हैं। अभी इस भरतक्षेत्रमें तो बड़ी कठिनाई है; वर्तमानमें यहाँ संत पुरुषोंका सुयोग प्राप्त होना कठिन है। एक पूज्य गुरुदेव इस पंचमकालमें यहाँ विराजते थे। उनके द्वारा अनेक जीवोंको सच्चा मार्ग प्राप्त हुआ है। **(स्वानुभूतिदर्शन-४४०)**

❖

प्रश्न :- श्रीमद् राजचंद्रजीके सम्बन्धमें दो शब्द कहनेकी कृपा करें।

समाधान :- श्रीमद् राजचंद्रजी सम्यग्दृष्टि थे। उन्होंने स्वानुभूति प्राप्त की थी। वे बचपन से ही वैरागी थे। उनकी विचारशक्ति तीव्र थी, उनका ज्ञान भी बहुत था। वे गृहस्थाश्रममें रहनेपर भी न्यारे थे। उन्हें गृहस्थाश्रममें ही स्वानुभूति प्रगट हुई थी। **(स्वानुभूतिदर्शन-४४१)**

❖

धन्य आराधना
(कृपालुदेव श्रीमद् राजचन्द्रजी द्वारा व्यक्त हुए स्वयं की अंतरंगदशा पर पूज्य भाईश्री शशीभाई द्वारा विवेचन)

३९६

बंबई, श्रावण वदी, १९४८

'अन–अवकाश आत्मस्वरूप रहता है; जिसमें प्रारब्धोदयके सिवाय दूसरा कोई अवकाश–योग नहीं है। उस उदयमें क्वचित् परमार्थभाषा कहनेका योग उदयमें आता है, क्वचित् परमार्थ भाषा लिखनेका योग उदयमें आता है, और क्वचित् परमार्थभाषा समझानेका योग उदयमें आता है। अभी तो वैश्यदशाका योग विशेषरूपसे उदयमें रहता है। और जो कुछ उदयमें नहीं आता उसे कर सकनेकी अभी तो असमर्थता है। जीवितव्यको मात्र उदयाधीन करनेसे, होनेसे विषमता मिटी है।

'...पूर्वोपार्जित स्वाभाविक उदयके अनुसार देहस्थिति है; आत्मरूपसे उसका अवकाश अत्यन्ताभावरूप है।'

कृपालुदेवको आत्मामें अनवकाशरूपसे (धारावाहीरूपसे, अखंडरूपसे) आत्मस्वरूप प्रगटरूपसे वर्तता है। उसकी बलवत्तरता इतनी है कि प्रारब्धउदयकी मर्यादामें ही बाह्यभाव होते हैं, उससे अधिक कुछ करनेकी शक्ति ही नहीं है; अर्थात् बाह्य कार्य करनेमें परिणामकी असमर्थता महसूस होती है। प्राप्त उदय–कार्यको छोड़कर, अन्य विकल्प होनेका अवकाश नहीं है।

उदयमें कभी कभार परमार्थ विषयक भाषा कहनेरूप, लिखनेरूप या समझानेरूप उदयोयोग उत्पन्न होता है। विशेषरूपसे तो व्यापारदशारूप योग अभी उदयमें वर्तता है, उस बाबतमें जैसा पूर्वकर्मका उदय आये, तत्संबंधी विशेष विकल्प नहीं करके, उदय अनुसार जीवितव्य रखना और उसमें समभावसे प्रवर्तन होता है। ऐसा होनेसे सहजरूपसे विषमता मिटी है। देहस्थिति पूर्वकर्मके उदय अनुसार स्वाभाविकरूपसे है, वह पररूप मालूम पड़ती है, स्वपनेका उसमें बिलकुल अनुभव नहीं होता। देहमें आत्मतत्त्व भासित होनेका अवकाश ही नहीं है; –इसप्रकारसे आत्मभाव वर्तता है। धन्य दशा !

'स्वानुभूतिप्रकाश' (हिन्दी) का स्वामित्वका विवरण फोर्म नं.४, नियम नं. ८

पत्रका नाम	:	'स्वानुभूतिप्रकाश' (हिन्दी)
प्रकाशन स्थल	:	श्री सत्श्रुत प्रभावना ट्रस्ट, ५८० जूनी माणेकवाडी, भावनगर–३६४००१
प्रकाशन अवधि	:	मासिक
मुद्रक	:	भगवती ऑफसेट, १५/सी बंसीधर मिल कम्पाउन्ड, बारडोलपुरा, अहमदाबाद–३८०००४
प्रकाशकका नाम	:	श्री सत्श्रुत प्रभावना ट्रस्ट, ५८० जूनी माणेकवाडी, भावनगर–३६४००१
संपादकका नाम	:	हीरालाल जैन, (भारतीय), ५८० जूनी माणेकवाडी, भावनगर–३६४००१
स्वामित्व	:	श्री सत्श्रुत प्रभावना ट्रस्ट, ५८० जूनी माणेकवाडी, भावनगर–३६४००१

मैं, हीरालाल जैन, एतद द्वारा घोषणा करता हूँ कि मेरी अधिकृत जानकारी और विश्वास अनुसार उपरोक्त विवरण सत्य है।

हीरालाल जैन

ता. ३१ मार्च, २०१५

मेनेजिंग ट्रस्टी, श्री सत्श्रुत प्रभावना ट्रस्ट